विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
भारत के सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि
विजय चंद्रशेखर

पृष्ठ क्र. 3-4
शुंग युग और संस्कृत का पुनरुत्थान
यतींद्र तिवारी

पृष्ठ क्र. 5-6
तिब्बत से भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध
रामकुमार शर्मा

पृष्ठ क्र. 7
काव्य और साहित्य में रस की प्रधानता
विजय कुमार सारस्वत

पृष्ठ क्र. 8
एक गृहणी और माँ की व्यथा यशोधरा
मिथिलेश यादव

भारत के सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि

विजय चंद्रशेखर

भारतीय इतिहास के अनुसन्धान और क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित करने का श्रेय आधुनिक विद्वानों को है। उनमें भी पाश्चात्य विद्वानों का प्रयास नि:सन्देह प्रशंसनीय है। उन्होंने भारत की साहित्यिक, सांस्कृतिक और कलात्मक उपलब्धियों की बिखरी हुई विपुल ज्ञान-थाती को क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित कर प्रकाशित किया। भारतीय इतिहास पर प्रकाश डालते हुए यद्यपि इन विद्वानों ने भारतीयों की असामान्य उच्च मेधा की भूरि-भूरि प्रशंसा की, किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि भारत में लेवी तथा हेरोदोतस के समान इतिहास-लेखन का कार्य नहीं हुआ। उनमें से कुछ विद्वानों का तो यह भी अभिमत है कि भारत में इसलिए इतिहास-लेखन के प्रति विमुखता रही, क्योंकि भारतीयों में इतिहास-बुद्धि का सर्वथा अभाव था। वे इतिहास-ज्ञान से अनभिज्ञ थे और उनकी इतिहास के प्रति कोई अभिरुचि नहीं थी। इन विद्वानों के इस कथन का यदि यह आशय हो कि आधुनिक वैज्ञानिक विधा पर प्राचीन भारत में इतिहास-लेखन का कार्य नहीं हुआ, तो इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, किन्तु भारतीयों में इतिहास-बुद्धि के अभाव की उनकी दलीलें निश्चित ही कपोल कल्पना मात्र हैं, क्योंकि यह आक्षेप तो विश्व के किसी भी देश तथा जाति के इतिहास-लेखन के सम्बन्ध में चरितार्थ हो सकता है।

भारतीय मनीषी इतिहास विषय के प्रति सर्वथा उदासीन थे, अथवा उनमें इतिहास-ज्ञान का अभाव था, ऐसा सोचना कदाचित् उपयुक्त नहीं है। उपयुक्त इसलिए कि इतिहास-ज्ञान की जो मान्यता और परम्परा पश्चिम की रही है, भारतीय विचार-दृष्टि से वह सर्वथा भिन्न है। भारत और पश्चिमी देशों में इतिहास-निर्माण की कार्यविधा में मौलिक भिन्नता है। मानव इतिहास की संरचना में कल्पना का सर्वाधिक योगदान रहा है। प्रथम इतिहास-बुद्धि मनीषी ने इतिहास में विभिन्न जातियों के आदर्शों को सँजोने के लिए कल्पनाओं का आधार लिया है। प्रत्येक जाति के इतिहास की ये कल्पनाएँ ही उसकी पुराण-कथाएँ हैं। पुराण-कथाएँ, अर्थात् ऐसे विचार, जो जन-जीवन के प्रत्यक्ष-दृष्ट साक्ष्यों से उगे और जनवाणी द्वारा प्रकाशित हुए। वे विचार भविष्य की अनेक पीढ़ियों तक अलिखित ही रहे और मौखिक रूप में श्रुतजीवी होकर आगे बढ़ते रहे। उन्हें जब क्रमबद्ध रूप में पिरोकर प्रस्तुत किया गया तो वे ही इतिहास के रूप में परिणत हो गये। इस प्रकार कल्पनाएँ ही इतिहास का सत्य सिद्ध होती हैं।

इस कल्पना-प्रसूत घटनाओं के आधार पर ही कालातीत और काल-सीमाओं का इतिहास निबद्ध होता है। ये कल्पनाएँ विभिन्न रूपों में इतिहास का सत्य बनकर अतीत को वर्तमान के साथ जोड़ती है और इतिहास की अविच्छिन्न परम्परा का निर्माण होता है। यूरोप और एशिया के देशों में साहित्य, संस्कृति तथा समाज का ऐतिहासिक क्रम निर्धारित करने के लिए राजाओं, राजवंशों, राजनीतिक तथा आर्थिक विकास के आधार पर इतिहास का निर्णय हुआ, किन्तु भारत में सभ्यता-संस्कृति के काल-विभाजन का दृष्टिकोण इससे कुछ भिन्न रहा है। यूरोप के इतिहास में व्यक्तिपरक दृष्टि है, जब कि समष्टिपरक भारतीय इतिहास उन विशिष्ट उपलब्धियों पर आधारित है, जो व्यक्ति की नहीं, समस्त युग की देन हैं। भारत के सांस्कृतिक इतिहास का युग-विभाजन उन महान् सिद्धान्तों तथा विचारधाराओं पर आधारित है, जिन्होंने सर्वथा नयी परिस्थितियों तथा परम्पराओं को स्थापित किया। वैदिक, महाकाव्य, पुराण, दर्शन, बौद्ध और जैन आदि भारतीय इतिहास का परम्परावर्ती विकास अपनी-अपनी मौलिक उपलब्धियों के कारण अलग-अलग युगों के रूप में अभिहित हुआ। इस भारतीय दृष्टि में राज्यों तथा साम्राज्यों के उत्थान-पतन को, नर-संहारों की अनर्थकारी घटनाओं और राजनीतिक तथा आर्थिक क्रिया-कलापों को उतना अधिक महत्व नहीं दिया गया है, जितना कि उन विचारों तथा मान्यताओं को,

जो तत्कालीन समस्त समाज का जीवनाधार रहीं। इसलिए भारतीय सभ्यता–संस्कृति का इतिहास घटनाप्रधान न होकर विचारप्रधान रहा है और उसके धारावाहिक प्रवाह में निरन्तर एकरूपता तथा अजस्रता बनी रही। भारतीय इतिहास, जो कि अनुकूल–प्रतिकूल सभी प्रकार की परिस्थितियों में एकरस, अखण्ड तथा सतत् प्रवाहमान् बना रहा, एकमात्र विचारों की धारा पर उभरा और संवर्द्धित हुआ। उसका धर्म, दर्शन, कला, साहित्य उन महान् विचारों पर आधारित रहा है, जो मानव मात्र की जिज्ञासा का विषय बना तथा विश्व में फैला और विशाल भू–मण्डल पर जिसके प्रभाव की छाप आज भी विद्यमान है।

इस भारतीय सभ्यता और संस्कृति का इतिहास उन चिरन्तन एवं शाश्वत मान मूल्यों पर आधारित है, जिन्होंने एक निश्चित जीवन–पद्धति का निर्माण किया और इसीलिए जिनका महत्व सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक बना रहा। इतिहास का भारतीय दर्शन न तो युग–विधायक ऋषियों, ब्राह्मणों, देवों और मनुष्यों का जीवन–चरित्र मात्र है, अपितु उस शाश्वत धर्म, अर्थात् नैतिक आदशों तथा प्राकृत नियमों का इतिहास है, जिसमें कभी विकार उत्पन्न नहीं हुआ, सदा एकरूपता और एकरसता बनी रही। विभिन्न शास्त्रों तथा विद्याओं के प्रति अतीत के युगों–युगों में जैसी–जैसी मान्यताएँ तथा धारणाएँ बदलती गयीं और रचनाकार तथा अध्येता जैसे–जैसे उत्तरोत्तर नवीनता की ओर उन्मुख होते गये, वैसे–वैसे अतीत का सारा निर्माण और उसकी निर्माण–विधा के क्षेत्र में भी नयी मान्यताओं तथा दृष्टिकोणों में परिवर्तन होता गया। इस वास्तविकता को ओझल करने के कारण ही कुछ पाश्चात्य विद्वानों को भारतीय साहित्य में इतिहास–बुद्धि का अभाव दिखाई दिया। विशाल भारतीय वांग्मय के निर्माता पुरातन मनीषियों द्वारा इतिहास–निर्माण की दृष्टि से जो बहुविध प्रयास हुए और जिनके आधार पर आधुनिक विद्वानों को भारत का बृहत् इतिहास लिखने की आधार सामग्री तथा प्रेरणा प्राप्त हुई, उसको मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त करके इस प्रकार देखा जा सकता है– साहित्यिक और पुरातात्विक। भारतीय इतिहास को आलोकित करने वाली यह साहित्यिक सामग्री भी दो रूपों में उपलब्ध होती है– इतिहासेतर और इतिहासपरक। इतिहासेतर साहित्यिक सामग्री की दृष्टि से भारतीय इतिहास–निर्माण के लिए बिखरे हुए प्रचुर साधन वेदों में सुरक्षित हैं। प्राग्वैदिक और वैदिक युग के जन–जीवन की परिस्थितियों को अभिव्यंजित करने वाली प्रमाण सामग्री वेदों में ही देखने को मिलती है। आर्यों के साथ आर्येतर कही जाने वाली दास तथा दस्यु जातियों के निरन्तर संघर्ष और वैदिक भारत के सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान का इतिहास ऋग्वेद में सुरक्षित है। इसी प्रकार ऐतरेय, शतपथ तथा तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण–ग्रंथों और वृहदारण्यक तथा छान्दोग्य आदि उपनिषद्–ग्रन्थों में उपनिबद्ध तत्कालीन घटना–क्रमों, परिस्थितियों और व्यक्तियों आदि के सम्बन्ध में परम्परागत तथा सामयिक कथाओं एवं वृत्तों में जो इतिहास–सूत्र अनुस्यूत हैं, कतिपय आधुनिक विद्वानों ने उन पर प्रकाश डालने का सराहनीय यत्न किया है। इसी प्रकार प्राचीन भारत की प्रामाणिक इतिहास–सामग्री के मूल्यवान संग्रह बौद्धों के त्रिपिटक, निकाय, वंशग्रन्थ, जातक और जैनों के कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन तथा आचारांग आदि हैं, इनके अतिरिक्त गर्गाचार्य की गार्गीसंहिता, पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि के महाभाष्य और परवर्ती कवि–नाटककार–कथाकारों की बहुसंख्यक इतिहासेतर कृतियों का अनुशीलन कर आधुनिक विद्वानों ने प्राचीन भारतीय इतिहास को प्रकाश में लाने का श्लाघ्य प्रयास किया है। यद्यपि रामायण और महाभारत की गणना इतिहासेतर साहित्यिक ग्रन्थों के रूप में की जाती रही है, किन्तु उनमें कतिपय सन्दर्भ ऐसे भी हैं जो विशुद्ध इतिहास–दृष्टि से लिखे गये हैं, क्योंकि उनमें तथ्यपूर्ण घटनाओं के आधार पर दो महान् ऐतिहासिक वंशों का क्रमबद्ध वर्णन किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों की गणना यद्यपि काव्य–विषय के अन्तर्गत की गयी हैय किन्तु उनमें पुरातन भारतीय राजवंशों के क्रमबद्ध इतिहास के साथ–साथ तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन की यथातथ्य झाँकी भी प्रस्तुत की गयी है। वे यद्यपि विशुद्ध इतिहास नहीं हैं, फिर भी वेदोत्तरकालीन भारत के विश्वकोश हैं और इतिहास की वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टि के निर्वाहक न होते हुए भी अपने–अपने युगों तथा चरितनयकों के इतिहास–ज्ञान के एकमात्र प्रामाणिक आधार हैं। आधुनिक इतिहासकारों की इतिहास–बुद्धि के प्रेरक तथा साधन होते हुए भी यह सत्य है कि उनमें केवल इतिहास विधा की एकांगिता नहीं है। इस सन्दर्भ में बहुसंख्यक विशाल पुराण–ग्रन्थों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिनका निर्माण इतिहास–बुद्धि मनीषियों द्वारा हुआ है और जिनमें सर्ग (सृष्टिज्ञान), प्रतिसर्ग (सृष्टि की पुनरुत्पत्ति), वंश (सृष्टि का वंश वृत्त), मन्वन्तर (विभिन्न मनुष्यों की कालावधि) और वंशानुचरित (सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश का इतिहास) पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया गया है। वृहत्तर भारत पर प्रकाश डालने वाली भौगोलिक सामग्री भी पुराणों में संकलित है। सृष्टि के उदय का इतिवृत्त होने के कारण पुराण समस्त मानवत्ता के विकास–क्रम को बताने वाले सर्वप्रथम महान् प्रयत्न है।

शुंग युग और संस्कृत का पुनरुत्थान

यतींद्र तिवारी

शुंग–युग में संस्कृत भाषा की पुनः प्रतिष्ठा हुई। शुंगों ने संस्कृत को राजभाषा के पद पर सम्मानित किया। उनके राज्य काल में प्रशासकीय कार्यों से सम्बद्ध लेखों को अंगीकृत करने का सारा ढंग मन्त्री से लेकर आमात्य, प्रधान, प्रतिनिधि, युवराज, पुरोहित और शासक तक, संस्कृत में प्रचलित था। ये समस्त प्रणालियों आद्योपान्त संस्कृत में ही थीं। शुंगकाल में संस्कृत को शासन और समाज में प्रतिष्ठित करने का एकमात्र श्रेय महाभाष्यकार पतंजलि को है। पतंजलि से पूर्व में भी पाणिनि और कात्यायन जैसे भाषाशास्त्री विद्यमान थे। उनके द्वारा व्याकरणशास्त्र का नियमन होकर संस्कृत की अनेक विधाओं पर ग्रन्थ निर्माण का कार्य हो चुका थाय किन्तु तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण संस्कृत का प्रचार–प्रसार एक वर्गविशेष तक ही सीमित रहा। शुंग पूर्व भारत में संस्कृत की अपेक्षा लोकभाषाओं का महत्व अधिक था। सम्राट् अशोक ने अपने धर्मनिरपेक्ष शासन के लिए लोकभाषा पालि को प्रधानता देकर उसे ही राजभाषा का स्थान दिया और उसी में समस्त राजाज्ञाओं को प्रसारित किया। अपने समस्त अभिलेखों को भी उसने पालि में ही उत्कीर्णित कराया। राज्याश्रय प्राप्त हो जाने के कारण साहित्य–रचना के लिए भी पालि को ही अपनाया गया।

मौर्यों की नीति का अनुसरण करते हुए सातवाहनों ने भी लोकभाषा को वरीयता दी। उन्होंने प्राकृत को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठितकर उसे साहित्य–रचना के लिए माध्यम बनाया। तत्कालीन शिक्षा केन्द्रों में प्राकृत को अध्ययन अध्यापन के लिए अनिवार्य घोषित किया गया। इस प्रकार शुंग पूर्व भारत में मौयों के शासनकाल में पालि तथा सातवाहनों के शासनकाल में महाराष्ट्री प्राकृत भाषा का राज–काज तथा साहित्य–निर्माण के क्षेत्र में एकाधिपत्य बना रहा। इस कारण संस्कृत का अस्तित्व केवल थोड़े से ब्राह्मण परिवारों तक ही सीमित रह गया था। समाज और साहित्य पर लोकभाषा का यह एकाधिपत्य लगभग ढाई–तीन सौ वर्षों तक बना रहा। संस्कृत भाषा की इस क्षीणोन्मुखता और उसके प्रति समाज की बढ़ती उपेक्षा को दृष्टि में रखकर पतंजलि ने अपने प्रौढ़ ग्रन्थ 'महाभाष्य' की रचना कर संस्कृत भाषा के सम्पोषक पाणिनि व्याकरण की परम्परा को उजागर किया। वैयाकरण पतंजलि साकेत के निवासी थे। पुष्यमित्र शुंग ने सर्वप्रथम साकेत (अयोध्या) को राजधानी बनाया। उनके राज्यकाल में अनुकूल परिस्थितियों के कारण पुरोहितों का एक वर्ग बाहर से आकर साकेत में बस गया था। पतंजलि उसी वंश से सम्बद्ध था। ऐसे महान् विद्वान् को गुणग्राही पुष्यमित्र ने अपना गुरु एवं राज्यपुरोहित बनाकर सम्मानित किया। जिस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य का यशस्वी व्यक्तित्व एवं सुशासन कौटिल्य के अर्थशास्त्र के रूप में अजर–अमर है, उसी प्रकार पुष्यमित्र महान् के गौरव एवं नवयुग–विधायक कार्यों का उज्ज्वल प्रतीक पतंजलि का महाभाष्य है। पतंजलि ने सस्कृत भाषा के महत्व को पुनः प्रस्थापित करके उसे लोक सम्मान दिलाया, जिसके फलस्वरूप संस्कृत को आगे बराबर सामाजिक मान्यता प्राप्त होती गयी। साहित्य–रचना के लिए भी संस्कृत का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होने लगा। जन साधारण लोक बोलियों का प्रयोग करता था, किन्तु साहित्यिक रचनाओं में संस्कृत को ही वरीयता दी गयी। तत्कालीन भाषा स्थिति का सम्यक परिचय बौद्ध कवि अश्वघोष के नाटकों से मिलता है। उनके नाटकों में विभिन्न वर्गों के पात्रों ने संस्कृत प्राकृत का समान रूप से प्रयोग किया है। बौद्धधर्म का अनुयायी होते हुए भी अश्वघोष ने साहित्य–रचना के लिए संस्कृत को ही अपनाया। इसी प्रकार शुंगयुगीन संस्कृत भाषा की लोकप्रियता का सूचक शूद्रक का मृच्छकटिक प्रकरण है, जिसमें शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली और ढक्की आदि लोकप्रचलित प्राकृत बोलियों के प्रयोग के साथ–साथ संस्कृत को वरीयता दी गयी है। परम्परागत लोक बोलियों के स्थान पर संस्कृत भाषा को साहित्य–निर्माण का माध्यम बनाने में शुंग शासकों की संस्कृत प्रियता विशेष प्रभावकारी सिद्ध हुई। उन्होंने संस्कृत को राजभाषा के पद पर सम्मानित करके उसके अध्ययन अध्यापन की समुचित व्यवस्था की। इस प्रकार ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शती से संस्कृत ने पूर्वागत समस्त लोकभाषाओं को पराभूतकर साहित्य–रचना के लिए स्वयं को प्रतिष्ठित एवं लोकविश्रुत किया।

संस्कृत की यह लोकप्रियता उत्तरोत्तर प्रशस्त होती रही। जब कभी धार्मिक तथा वैयक्तिक प्रतियोगिता का समय आया तो बौद्धों तथा जैनों ने भी अपनी सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा, अपने धर्म, दर्शन तथा काव्य, नाटक आदि समस्त साहित्य–विषयों के लिए पालि–प्राकृत का मोह छोड़कर संस्कृत को ही वरण

कर लिया। इस प्रकार संस्कृत भाषा के नवोत्थान और संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि में शुंग शासकों का योगदान इतिहास की अविस्मरणीय घटना है। संस्कृत प्रिय शुंगों के शासनकाल में संस्कृत साहित्य की अनेक नयी विधाएँ प्रकाश में आयीं। इस युग में अनेक ग्रन्थों के नये संस्करण निकले, जिनमें 'महाभारत' तथा 'रामायण' सदृश महत्वपूर्ण ग्रन्थों का नाम उल्लेखनीय है। विद्वानों का अभिमत है कि इन ग्रंथों के वर्तमान संस्करणों का पुनर्निर्धारण शुंग युग में ही हुआ। इसी प्रकार कतिपय पुराणों का प्रतिसंस्करण हुआ। धर्मसूत्रों के व्याख्यान तथा स्मृति–ग्रन्थों के निर्माण का श्रेय भी शुंग युग को ही है। 'मनुस्मृति' तथा 'याज्ञवल्क्यस्मृति' का निर्माण (150–200 ई.पू.) शुंग युग में ही हुआ (कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, खण्ड 1, पृ. 279)। इस प्रकार संस्कृत भाषा और साहित्य के पुनरुत्थान की दृष्टि से भारतीय इतिहास में शुंग शासन का योगदान सर्वथा अपूर्व सिद्ध होता है। शूद्रक के कथित नाम से लिखित 'मृच्छकटिक' नामक नाटक शुंग युग के सांस्कृतिक नवजागरण का एक ज्वलन्त प्रतीक है। संस्कृत साहित्य में उसे सर्वश्रेष्ठ सामाजिक प्रकरण कहा गया है। उसमें जन–साधारण के जीवन का आधार लेकर तत्कालीन सामाजिक जीवन का सशक्त, तथ्यपूर्ण चित्रण बड़ी मार्मिकता से किया गया है।

इस नाटक का नायक चारुदत्त उज्जयिनी के एक उच्च वंशीय ब्राह्मण परिवार में जन्मा था। उसके विपुल धन वैभव ने उसकी जातीय श्रेष्ठता को द्विगुणित कर दिया था। किन्तु जीवन की विडम्बना से वह इतना दरिद्र हो गया था कि परिवार का भरण–पोषण करना भी उसके लिए एक समस्या बन गयी। किन्तु इस दीन दशा में भी वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा करता रहा। उसके व्यक्तित्त्व और गुणों पर मुग्ध होकर उज्जयिनी की प्रसिद्ध गणिका वसन्तसेना का उस पर प्रेम हो गया। गणिका के पास विपुल धन, वैभव तथा आराम था। बड़े–बड़े धन कुबेर और राजपुरुष उस पर मुग्ध थे। किन्तु उस गणिका ने एक दरिद्र भूखे ब्राह्मण को अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। इन दो समाज एवं वर्ग–विरोधी विषमताओं पर आघात करने के उद्देश्य से ही उसके निर्माता ने दो सर्वथा विपरीत, किन्तु यथार्थ चरित्रों को अपनी कृति का विषय बनाया। एक प्रबुद्ध युवा विचारक ने अपने अनुरूप ही एक ऐसे युवक को अपनी समर्थ लेखनी का विषय बनाया, जो उदार, निर्भीक तथा उसी की तरह प्रगतिशील था। 'मृच्छकटिक' में इन मानवतावादी आदर्शों का सुन्दर चित्रण होने के कारण ही इस नाटक को अत्यधिक सम्मान प्राप्त हुआ। उसमें सामाजिक जीवन का सजीव अभिव्यंजन हुआ है। उसके पात्र समाज के सभी वर्गों और क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं। उनमें ब्राह्मण, रंक, धूर्त, वैश्या, कुट्टिनी, लम्पट, चोर, जुआड़ी, पुलिस और न्यायाधीश आदि ऐसे पात्र हैं, जो कि तत्कालीन समाज के विचित्र क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। शुंगों के कलानुराग के प्रमाण अनेक रूपों में जीवित हैं। कनिष्क की ही भाँति शुंग शासक भी नगर–निर्माण में विशेष अभिरुचि रखते थे। उनके शासनकाल में भारत में कई स्थानों पर स्तूप बने। उसमें साँची और भरहुत का नाम उल्लेखनीय है। भरहुत के विशाल बौद्ध स्तूप की अलंकृत वेदिका शुंगों की कीर्तिकथा का परिचायक है। साँची स्तूप की चित्र–विचित्र द्वार–पट्टिकाओं का निर्माण भी शुंग युग में ही हुआ। शुंगों के शासनकाल में विभिन्न माध्यमों में भारत का विदेशों से सांस्कृतिक, धार्मिक तथा व्यापारिक सम्बन्धों का विकास हुआ। मौर्यों के शासनकाल से ही भारत का विदेशों से सांस्कृतिक आदान–प्रदान होने लग गया था। व्यापार और राजनीतिक प्रयोजनों के लिए ईरान और यूनान के प्रतिनिधि भारत आने लगे थे। भारतीयों का प्रवेश भी एशिया, विशेष रूप से पश्चिमी एशिया के विभिन्न देशों में होने लग गया था। इस कारण आवागमन की परिस्थितियाँ अधिक सुगम, सुविधाजनक और अनुकूल हो गयी थीं। शुंगों के समय में तक्षशिला, बारबरा, पामाइटा, पेट्रा और सिकन्दरिया व्यापार के प्रसिद्ध अन्तराष्ट्रीय केन्द्र थे। लगभग 200 ई.पू. में यूफ्रेटीज नदी के तट पर अवस्थित तारन नामक नगर में भारतीयों की बस्तियाँ निर्मित हो चुकी थीं और वहाँ भारतीयता का इतना अधिक प्रभाव व्याप्त हो चुका था कि अनेक देवी–देवताओं के मन्दिरों की स्थापना हो चुकी थी।

इसी प्रकार सिकन्दरिया में भी कई भारतीय व्यापारी स्थायी रूप से बस चुके थे। यूनानी देशों से भारत के आर्थिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों की घनिष्ठता निरन्तर बढ़ती गयी। उत्तर पश्चिम भारत पर कुषाणों का पूर्णाधिपत्य हो जाने के बाद प्रथम शती ई.पू. में यूनानी नाविक और यात्री भारत में प्रवेश करने लग गये थे। जल–मार्ग से भारत की सर्वप्रथम यात्रा करने वाले यूनानी नाविक हिप्पालस का नाम उल्लेखनीय है। इस प्रकार सीरिया, रोम और मिस्र से भारत के सम्बन्ध घनिष्ठतर होते जा रहे थे। सांस्कृतिक आदान–प्रदान की इस परम्परा का श्रेय वास्तव में बौद्धधर्म को दिया जाना चाहिए। ईसा पूर्व प्रथम शती से 200 ई. तक और उसके बाद भी मध्य एशिया तथा अफगानिस्तान आदि देशों में बौद्धधर्म का प्रभाव व्याप्त हो चुका था, जिसके फलस्वरूप वहाँ अनेक बौद्ध मठों की स्थापना हुई। बौद्धधर्म के महान् सिद्धान्तों से प्रभावित होकर वहाँ के अनेक लोगों ने भिक्षुमय जीवन वरणकर धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में इस धर्म की परम्पराओं का प्रसार किया। इसी का परिणाम था कि मध्य एशिया में बौद्ध साहित्य के अध्ययन–अध्यापन का प्रचार बढ़ता गया और बौद्ध–आदर्शों पर वहाँ भी भारतीय नामकरणों की प्रथा प्रचलित हुई। बौद्धधर्म के लोक–मंगलकारी आदर्शों के प्रचार–प्रसार के लिए भारतीय, ईरानी, मिस्री और ईराकी भिक्षुओं तथा व्यापारियों ने विभिन्न प्रयोजनों से पूर्व तथा पश्चिम की निरन्तर यात्राएँ कर धर्म, साहित्य, भाषा, लिपि व कला आदि के विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक आदान–प्रदान द्वारा ऐसे सांस्कृतिक समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया, जिसकी परम्परा आगे की अनेक शतियों तक अक्षुण्ण रूप में बनी रही और जिसके फलस्वरूप भारतीय संस्कृति के इतिहास में उसकी अमर स्मृति आज भी बनी हुई है।

तिब्बत से भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध

रामकुमार शर्मा

तिब्बत हमारी सांस्कृतिक निधियों का महान् केन्द्र रहा है। सहस्राब्दियों पहले से लेकर अब तक दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध अटूट रूप में बने हुए हैं। दोनों देशों की सांस्कृतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक एकता, दानों के रीति–रिवाज और आचार–व्यवहारों की परम्परा ऐसे ठोस रूप में आबद्ध है कि उनको किसी भी प्रकार से अलग करना सम्भव नहीं है। दोनों देशों के लोक–जीवन में परम्परा से जो विश्वास और मान्यताएँ प्रचलित हैं, उनसे सहज ही यह ज्ञात होता है कि दोनों देशों की संस्कृतियों का एक ही मूल स्रोत है। न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से, अपितु भौगोलिक दृष्टि से भी दोनों की एकता स्पष्ट है। यदि आचार–विचार, भाषा–साहित्य और स्वरूप–स्वभाव की दृष्टि से दोनों देशों के जन–जीवन की तुलना की जाये, तो दोनों में आश्चर्यजनक समानता देखने को मिलती है। इस दृष्टि से यदि दोनों देशों के सम्बन्धों का विश्लेषण किया जाये तो ज्ञात होता है कि उनकी जड़ें सुदूर अतीत की गहराई तक जमी हुई हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराणों में तिब्बत के माहात्म्य की अनेक रोचक कथाएँ वर्णित हैं।

कहा गया है कि 'त्रिविष्टिप्' मानवी सभ्यता का उद्गम तथा समस्त ज्ञान–विज्ञान, कला–कौशल का उद्गम स्थल था और वहीं से सृष्टि का सूत्रपात हुआ तथा मनुष्य को ज्ञान का सर्व प्रथम आलोक प्राप्त हुआ। वैवस्वत मनु ने आर्यावर्त की जो सीमाएँ निर्धारित की हैं, वर्तमान तिब्बत उनके अन्तर्गत सम्मिलित था। ब्रह्मपुत्र से परिवृत्त, नेपाल और वर्मा भी इसी आर्यावर्त के अन्तर्गत थे। मनु का यह भी कथन है कि इस सुमहत् आर्य देश के निर्माण तथा नामकरण के मूल में विशिष्ट एवं विचारवान लोगों का हाथ था। इसलिए उसको देवनिर्मित देश की संज्ञा दी गयी थी। सम्राट् हर्षवर्धन के समय (7वीं श.ई.) तक भारत की जो उत्तरी सीमा थी और तत्कालीन चीनी पर्यटक हैन–त्साँग ने अपने यात्रा विवरण में जिसका विस्तार से वर्णन किया है, वह ब्रह्मपुत्र तक फैली हुई थी। ब्रह्मपुत्र के निकट ब्रह्मपुर नगर का आँखों देखा हाल भी उक्त यात्री ने वर्णन किया है। यह नगर 660 मील लम्बा–चौड़ा था। उसके उत्तर में 'सुवर्णभूमि' नाम से एक प्रसिद्ध स्थल था, जो कि मानसरोवर के निकट था। आधुनिक विद्वानों की खोज के अनुसार वर्तमान बाड़ाहाट (उत्तरकाशी) ही प्राचीन ब्रह्मपुर नगर था। प्रसिद्ध पुरातत्व विद्वान् कनिंघम ने इसी को 'वैरापट्टन' कहा है। यह सम्पूर्ण भू–भाग (ब्रह्मपुर) भारत–तिब्बत का दुसाँध है, जो सम्राट् हर्षवर्धन के साम्राज्य (605–647 ई.) का एक अंग था। उत्तरी हिमालय पर अवस्थित ब्रह्मपुर नामक एक प्राचीन राज्य का 'मार्कण्डेय पुराण' में भी विस्तार से वर्णन हुआ है। उसके एक ओर वनराष्ट्र था और दूसरी ओर एकपद। ये दोनों भूखण्ड स्वर्णभूमि के दो प्रदेश थे। सम्भव है कि गढ़वाल तथा कुमायूँ के

उत्तर में अवस्थित सुवर्णभूमि या स्वेन चाङ्, जो कि इस समय मानसरोवर (ड्–री–कोर–सुम) प्रदेश के नाम से अभिहित है, प्राचीन काल में भारत का ही अंग रहा होगा। महाभारत में लिखा है कि इस प्रदेश में अच्छी जाति का पिप्पीलिक (चींटी) सुवर्ण निकलता था। आधुनिक ऐतिहासिक खोजों से भी यह सिद्ध होता है कि यह प्रदेश लगभग 7वीं शती ई. तक भारत का अविभाज्य अंग था। सम्राट् हर्षवर्धन के समय तिब्बत पर राजा स्रोङ्–वत्सन्–स्गम–पो (617–698 ई.) नामक राजा का शासन था। उसने सम्राट् हर्षवर्धन के आदर्शों पर दिग्विजय का निश्चय किया, किन्तु उसकी यह दिग्विजय नेपाल और चीन में कुछ भू–भागों को स्वायत्त करके, विशेष रूप से इन दोनों देशों के तत्कालीन राजाओं की कन्याओं का वरण करने तक ही सीमित रह गयी थी। तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रचार–प्रसार और बौद्ध–ग्रन्थों के अनुवाद तथा रूपान्तर का कार्य लगभग 13वीं शती ई. तक निरन्तर होता रहा। इस बीच तिब्बत के साथ भारत के सम्बन्धों की परम्परा पूर्ववत् बनी रही। विदेशी आक्रमणों तथा राजनीतिक अस्थिरता के कारण भारत में बौद्धधर्म और बौद्ध संस्कृति का प्रभाव धीरे–धीरे कम होता गया। फलस्वरूप तिब्बत और अन्य बौद्ध देशों से भारत के सम्बन्धों में भी शिथिलता आती गयी। इस समय तक तिब्बत एक स्वतन्त्र देश के रुप में अपना अस्तित्व स्थिर कर चुका था। किन्तु हिमालय के दुर्गम शैलश्रृंगों

को लौंधकर आधुनिक विकसित सभ्यता–संस्कृति तिब्बत तक पहुँचने में समर्थ न हो सकी थी। इसीलिए कई शतियों तक तिब्बत विश्व के नये विकास कार्यों से अछूता ही रहा। भारत–तिब्बत के उत्तरकालीन सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि अन्त तक दोनों देशों में व्यापारिक तथा धार्मिक सम्बन्ध बने रहे। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि तिब्बत के अपने पास–पड़ोस के सभी देशों से समय–समय पर अनेक समस्याओं को लेकर संघर्ष होते रहे, किन्तु भारत के साथ उसके मैत्री सम्बन्ध बने रहे। जब तिब्बत पर कोई दैवी या मानवी संकट आया, तो भारत पहला पड़ोसी देश था, जिसने उसकी सहायता की और उसकी उन्नति में पूर्ण योगदान किया। भारत से कला का सन्देश पहले नेपाल और तत्पश्चात् तिब्बत पहुँचा। तिब्बत में बौद्धधर्म की विरासत के साथ ही बौद्धकला की महान् थाती का भी प्रवेश हुआ। इस कला–थाती को ले जाने वाले नेपाली राजकन्या खि–चुन् थी, जो नेपाल के राजा अंशुवर्मन् (655–665 ई.) की पुत्री थी और जिसका विवाह तिब्बत के राजा स्रोङ्–वत्सन्–स्गम–पो (617–698 ई.) के साथ हुआ था। नेपाल की यह राजकन्या सौगात के रूप में अपने साथ अक्षोभ्य मैत्रेय और शाक्यमुनि की जो मूर्तियाँ ले गयी थी। वे तिब्बत में बौद्धधर्म तथा बौद्धकला की स्थापना तथा उन्नति का कारण बनीं। इस धर्मप्राण रानी के आग्रह पर राजा ने भारत से न केवल विद्वानों एवं भिक्षुओं को, अपितु स्थापत्य तथा चित्रकला के कलाकारों को भी तिब्बत बुलाकर कला को उन्नत किया। इन भारतीय नेपाली स्थपतियों एवं चित्रकारों ने तिब्बत में विहारों, स्तूपों, मन्दिरों, मूर्तियों, चित्रपटों और भित्तिचित्रों का निर्माण करके तिब्बत की धरती पर कला को पल्लवित किया। राजा स्रोङ्–वत्सन्–स्गम–पो के पाँचवें उत्तराधिकारी राजा खी–स्रोङ्–ल्दे–वत्सन् (802–845 ई.) ने ल्हासा के निकट व–समयास नामक बौद्ध बिहार की स्थापना की। इसको उदन्तपुरी महाबिहार के अनुकरण पर भारतीय स्थापत्य एवं कलाकारों के सहयोग से बनाया गया था। यह बिहार तिब्बत में न केवल स्थापत्य एवं शिल्प, अपितु चित्रकला की दृष्टि से कभी अपने ढंग का प्रथम प्रयास था। उसकी भीतरी दीवारों पर अंकित चित्रों के प्रेरणा–स्रोत अजन्ता के भित्तिचित्र थे। चित्रकारों में एक का नाम वैरोचनरक्षित था, जो आचार्य शन्तरक्षित का शिष्य था। इस विहार के वर्तमान भित्तिचित्र बहुत बाद के हैं। तदनन्तर राजा मु–ने–वत्सन् (845–846 ई.) और खि–लदे–वत्सन् पो (847–877 ई.) के समय तिब्बत में धार्मिक सुधारों के अतिरिक्त कलाकारों तथा साहित्यकारों का भी यथोचित सम्मान हुआ। इसी समय तिब्बत में बंगाल की पाल शैली के अनुकरण पर पटचित्रों का निर्माण हुआ। तिब्बत के ताङ् का के मन्दिर में लटकने वाले पटचित्र इसी समय बनाये गये। उनकी प्रेरणा से तिब्बत के अन्य कलाकारों ने भी पाल शैली के रचना–विधान के आधार पर चित्र बनाये। पाल शैली के अनुकरण पर बने कुछ धार्मिक चित्र बड़े सुन्दर हैं। राजा रत्–प–चन् (877–901 ई.) के शासनकाल में तिब्बत के बहुसंख्यक विहारों का निर्माण हुआ उनकी भित्तियों को नाना प्रकार के चित्रों से अलंकृत किया गया। इस युग में सर्व प्रथम ग्रंथों के दृष्टान्त चित्र बने। चित्रकला के अतिरिक्त स्थापत्य और मूर्तिकला के निर्माण में भी इस युग का उल्लेखनीय योगदान रहा। लगभग 11वीं शती ई. में तिब्बत में एक शासन का उदय हुआ, जिसने स्वयं भिक्षुमय जीवन वरण करके तिब्बत की धरती पर साहित्य, कला और धर्म की त्रिवेणी बहाकर उसका आध्यात्मिक तथा भौतिक विकास किया। तिब्बत के इस त्यागी संत का नाम शानप्रभ (ह–खोर–ल्दे) था। इसके काल में भारत में अनेक कलाकार और कला–वस्तुएँ तिब्बत गयीं। स–स्क्य मठ में सुरक्षित अनेक पीतल की मूर्तियाँ भारतीय है।

भारतीय कला ने तिब्बत के स्तूपों, विहारों तथा मठों के स्थापत्य और मूर्ति–शिल्प को व्यापक रूप से प्रभावित किया। वहाँ के विहारों में निर्मित पटचित्रों पर आजन्ता शैली का निश्चित प्रभाव है। तिब्बत में लगभग 16वीं शती ई. तक निरन्तर कला का विकास होता रहा। इन परवर्ती कला–कृतियों पर चीनी प्रभाव है। इस समय ल्हासा के जो–खङ् मठ की भित्तियों पर और ल्ह–लुङ्–ल्ह–चम् के महल पर बने चित्र इस प्रभाव के उदाहरण हैं। तिब्बत के बहुसंख्यक चित्र तथा मूर्तियाँ भगवान् बुद्ध, पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, बोधिसत्वों तथा स्थविरों से सम्बन्धित हैं। तिब्बती चित्रकला में धार्मिक पटचित्रों और व्यक्तिचित्रों का विशेष स्थान है। ये पटचित्र देवी–देवताओं. धर्मगुरुओं, तन्त्र–मन्त्रों और प्राकृतिक दृश्यों से सम्बद्ध हैं। उनमें ध्वज–पटचित्रों (बैनर पैंटिंग्स) की अधिकता है। व्यक्ति–चित्रों में आचार्यों, भिक्षुओं तथा राजाओं के नाम प्रमुख हैं। शान्तरक्षित, कमलशील, पद्मसम्भव, ज्ञानप्रभ और दीपकर श्रीज्ञान के चित्र अधिक लोकप्रिय रहे हैं। आचार्य पद्मसम्भव ने तिब्बती जन–जीवन और कलाकारों में इतनी अधिक ख्याति प्राप्त की कि आज भी कोई मठ तथा मन्दिर ऐसा नहीं है, जहाँ उनका चित्र न टंगा हो। उनका आधार मुख्यतः अजन्ता और बाघ के गुफाचित्र हैं और विषय भी तदनुरूप जातक कथाएँ हैं। तिब्बत में इस प्रकार के चित्र तथा मूर्तियों 7वीं शती ई. तक निरन्तर बनती रहीं। पाँचवें दलाई लामा सुमतिसागर के समय (1617–1682 ई.) में तिब्बती कला का अच्छा विकास हुआ। यही स्थिति बाद के लामा धर्मगुरुओं के शासन काल में भी बनी। 19वीं शती में कलाकारों के व्यापारिक दृष्टिकोण के कारण तिब्बती कला का हास हुआ। भारत की ही भाँति तिब्बती कला के केन्द्र मठ, मन्दिर तथा विहार रहे हैं। तिब्बत में उपलब्ध और तंजूर ग्रन्थमाला में प्रकाशित गान्धारराज नग्नजित् के चित्रलक्षण का तिब्बती चित्रकला पर व्यापक प्रभाव रहा। तिब्बत में 9वीं से 17वीं शती ई. तक जितने चित्र, पटचित्र और भित्तिचित्र बने, उन पर इस ग्रन्थ के रचना–विधान का प्रभाव है। भारतीय–तिब्बती कला के समन्वय का आधार भी यही लक्षण–ग्रन्थ रहा है। चीन में बौद्धधर्म का प्रवेश हानवंशीय सम्राट् बू–ती के शासनकाल में ही हो चुका था, जिसका प्रमाण श्वाई राजवंश में बौद्धधर्म और ताओवाद का अभिलेख है।

काव्य और साहित्य में रस की प्रधानता

विजय कुमार सारस्वत

श्रव्य काव्य के पठन अथवा श्रवण एवं दृश्य काव्य के दर्शन तथा श्रवण में जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, वही काव्य में रस कहलाता है। रस के जिस भाव से यह अनुभूति होती है कि वह रस है, स्थायी भाव होता है। रस, छंद और अलंकार–काव्य रचना के आवश्यक अवयव हैं। प्राचीन काव्य शास्त्रियों के अनुसार रसों की संख्या नौ है। आधुनिक काव्य शास्त्रियों के अनुसार रसों की संख्या ग्यारह है। रस का शाब्दिक अर्थ है – आनन्द। काव्य में जो आनन्द आता है, वह ही काव्य का रस है। काव्य में आने वाला आनन्द अर्थात् रस लौकिक न होकर अलौकिक होता है। रस काव्य की आत्मा है। संस्कृत में कहा गया है कि 'रसात्मकम् वाक्यम् काव्यम्' अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है।

रस अन्तःकरण की वह शक्ति है, जिसके कारण इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं, मन कल्पना करता है, स्वप्न की स्मृति रहती है। रस आनंद रूप है और यही आनंद विशाल का, विराट का अनुभव भी है। यही आनंद अन्य सभी अनुभवों का अतिक्रमण भी है। आदमी इन्द्रियों पर संयम करता है, तो विषयों से अपने आप हट जाता है। परंतु उन विषयों के प्रति लगाव नहीं छूटता। रस का प्रयोग सार तत्व के अर्थ में चरक, सुश्रुत में मिलता है। दूसरे अर्थ में, अवयव तत्व के रूप में मिलता है। सब कुछ नष्ट हो जाये, व्यर्थ हो जाये पर जो भाव रूप तथा वस्तु रूप में बचा रहे, वही रस है। रस के रूप में जिसकी निष्पत्ति होती है, वह भाव ही है। जब रस बन जाता है, तो भाव नहीं रहता। केवल रस रहता है। उसकी भावता अपना रूपांतर कर लेती है। रस अपूर्व की उत्पत्ति है। नाट्य की प्रस्तुति में सब कुछ पहले से दिया रहता है, ज्ञात रहता है, सुना हुआ या देखा हुआ होता है। इसके बावजूद कुछ नया अनुभव मिलता है। वह अनुभव दूसरे अनुभवों को पीछे छोड़ देता है। अकेले एक शिखर पर पहुँचा देता है। रस का यह अपूर्व रूप अप्रमेय और अनिर्वचनीय है। एक प्रसिद्ध सूक्त है– रसौ वै सः। अर्थात् वह परमात्मा ही रस रूप आनन्द है। 'कुमारसम्भव' में पानी, तरल और द्रव के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग हुआ है। 'मनुस्मृति' मदिरा के लिए रस शब्द का प्रयोग करती है। मात्रा, खुराक और घूंट के अर्थ में रस शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'वैशेषिक दर्शन' में चौबीस गुणों में एक गुण का नाम रस है। रस छह माने गए हैं– कटु, अम्ल, मधुर, लवण, तिक्त और कषाय। स्वाद, रूचि और इच्छा के अर्थ में भी कालिदास रस शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रेम की अनुभूति के लिए 'कुमारसम्भव' में रस शब्द का प्रयोग हुआ है। 'रघुवंश', आनन्द और प्रसन्नता के अर्थ में रस शब्द काम में लेता है। 'काव्यशास्त्र' में किसी कविता की भावभूमि को रस कहते हैं। रसपूर्ण वाक्य को काव्य कहते हैं। भर्तृहरि सार, तत्व और सर्वोत्तम भाग के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग करते हैं। 'आयुर्वेद' में शरीर के संघटक तत्वों के लिए 'रस' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सप्तधातुओं को भी रस कहते हैं। पारे को रसेश्वर अथवा रसराज कहा है। पारसमणि को रसरत्न कहते हैं। मान्यता है कि पारसमणि के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है। रसज्ञाता को रसग्रह कहा गया है। 'उत्तररामचरित' में इसके लिए रसज्ञ शब्द प्रयुक्त हुआ है। भर्तृहरि काव्यमर्मज्ञ को रससिद्ध कहते हैं। 'साहित्यदर्पण' प्रत्यक्षीकरण और गुणागुण विवेचन के अर्थ में रस परीक्षा शब्द का प्रयोग करता है। नाटक के अर्थ में 'रसप्रबन्ध' शब्द प्रयुक्त हुआ है। भरतमुनि ने काव्य के आवश्यक तत्व के रूप में रस की प्रतिष्ठा करते हुए शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, अद्भुत, बीभत्स तथा भयानक नाम से उसके आठ भेदों का स्पष्ट उल्लेख किया है तथा कतिपय पंक्तियों के आधार पर विद्वानों की कल्पना है कि उन्होंने शांत नामक नवें रस को भी स्वीकृति दी है। इन्हीं नौ रसों की संज्ञा है नवरस। विभावानुभाव–संचारीभाव के संयोग से इन रसों की निष्पत्ति होती है। प्रत्येक रस का स्थायीभाव अलग–अलग निश्चित है। उसी की विभावादि संयोग से परिपूर्ण होनेवाली निर्विघ्न–प्रतीति–ग्राह्य अवस्था रस कहलाती है। शृंगार का स्थायी रति, हास्य का हास, रौद्र का क्रोध, करुण का शोक, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, बीभत्स का जुगुप्सा, भयानक का भय तथा शांत का स्थायी शम या निर्वेद कहलाता है। भरत ने आठ रसों के देवता क्रमशः विष्णु, प्रमथ, रुद्र, यमराज, इंद्र, ब्रह्मा, महाकाल तथा कालदेव को माना है। शांत रस के देवता नारायण और उसका वर्ण कुंदेटु बताया जाता है। प्रथम आठ रसों के क्रमशः श्याम, सित, रक्त, कपोत, गौर, पीत, नील तथा कृष्ण वर्ण माने गए हैं।

काव्य के प्रथम आठ रसों में शृंगार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स को प्रधान मानकर क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक रस की उत्पत्ति मानी है। शृंगार की अनुकृति से हास्य, रौद्र तथा वीर कर्म के परिणामस्वरूप करुण तथा अद्भुत एवं वीभत्स दर्शन से भयानक उत्पन्न होता है। अनुकृति का अर्थ, अभिनवगुप्त के शब्दों में आभास है, अतः किसी भी रस का आभास हास्य का उत्पादक हो सकता है। विकृत वेशालंकारादि भी हास्योत्पादक होते हैं। रौद्र का कार्य विनाश होता है, अतः उससे करुण की तथा वीरकर्म का कर्ता प्रायः अशक्य कार्यों को भी करते देखा जाता है, अतः उससे अद्भुत की उत्पत्ति स्वाभाविक लगती है। इसी प्रकार बीभत्सदर्शन से भयानक की उत्पत्ति भी संभव है। अकेले स्मशानादि का दर्शन भयोत्पादक होता है। तथापि यह उत्पत्ति सिद्धांत आत्यंतिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परपक्ष का रौद्र या वीर रस स्वपक्ष के लिए भयानक की सृष्टि भी कर सकता है और बीभत्सदर्शन से शांत की उत्पत्ति भी संभव है।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

एक गृहणी और माँ की व्यथा यशोधरा

गौतम बुद्ध के गृह त्याग की कहानी को केन्द्र में रखकर मैथिलीशरण गुप्त ने महाकाव्य यशोधरा की रचना की। इसमें गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा की विरहजन्य पीड़ा को विशेष रूप से महत्व दिया गया है। यह गद्य–पद्य मिश्रित विधा है जिसे चम्पूकाव्य कहा जाता है। यशोधरा का उद्देश्य पति–परित्यक्तों यशोधरा के हार्दिक दुःख की व्यंजना की स्थापना है। अमिताभ की आभा से चकित भक्तों को अदृश्य यशोधरा की पीड़ा का, मानवीय सम्बन्धों के अमर गायक, मानव–सुलभ सहानुभूति के प्रतिष्ठापक मैथिलीशरण गुप्त की अंतःप्रवेशिनी दृष्टि ने ही सर्वप्रथम साक्षात्कार किया। कथानक गौतम के वैराग्य चिंतन से होता है। जरा, रोग, मृत्यु आदि के दृश्यों से वे भयभीत हो उठते हैं। अमृत तत्व की खोज के लिए गौतम पत्नी और पुत्र को सोते हुए छोड़कर 'महाभिनिष्क्रमण' करते हैं। यशोधरा का निरवधि विरह अत्यंत कारुणिक है। विरह की दारुणता से भी अधिक उसको खलता है प्रिय का 'चोरी–चोरी जाना'। यशोधरा समझती है परंतु उसे मरण का भी अधिकार नहीं है, क्योंकि उस पर राहुल के पालन–पोषण का दायित्व है। फलतः 'आँचल में दूध' और 'आँखों में पानी' लिए वह जीवनयापन करती है। सिद्धि प्राप्त होने पर बुद्ध लौटते हैं, सब लोग उनका स्वागत करते हैं परंतु मानिनी यशोधरा अपने कक्ष में रहती हैं। अंततः स्वयं भगवान उसके द्वार पहुँचते हैं और भीख माँगते हैं। यशोधरा उन्हें अपनी अमूल्य निधि राहुल को दे देती है तथा स्वयं भी उनका अनुसरण करती है। इस कथा का पूर्वार्द्ध एवं इतिहास प्रसिद्ध है पर उत्तरार्द्ध कवि की अपनी उर्वर कल्पना की सृष्टि है।

'यशोधरा' का प्रमुख रस शृंगार है, शृंगार में भी केवल विप्रलम्भ। संयोग का तो एकांताभाव है। शृंगार के अतिरिक्त इसमें करुण, शांत एवं वात्सल्य भी यथास्थान उपलब्ध हैं। प्रस्तुत काव्य में छायावादी शिल्प का आभास है। उक्ति को अद्भुत कौशल से चमत्कृत एवं सप्रभाव बनाया गया है। यशोधरा की भाषा शुद्ध खड़ी बोली है– प्रौढ़ता, कांतिमयता और गीतिकाव्य के उपयुक्त मृदुलता और मसृणता उसके विशेष गुण हैं, इस प्रकार यशोधरा एक उत्कृष्ट रचना सिद्ध होती है।

काव्य की दृष्टि से भी 'यशोधरा' गुप्त जी के प्रबंध कौशल का परिचायक है। यह प्रबंध काव्य है, लेकिन समाख्यानात्मक नहीं। चरित्रोद्घाटन पर कवि की दृष्टि केंद्रित रहने के कारण यह नाटय–प्रबंध है और एक भावनामयी नारी का चरित्रोद्घाटन होने से इसमें प्रगीतात्मकता का प्राधान्य है। यशोधरा का विरह अत्यंत दारुण है और सिद्धि मार्ग की बाधा

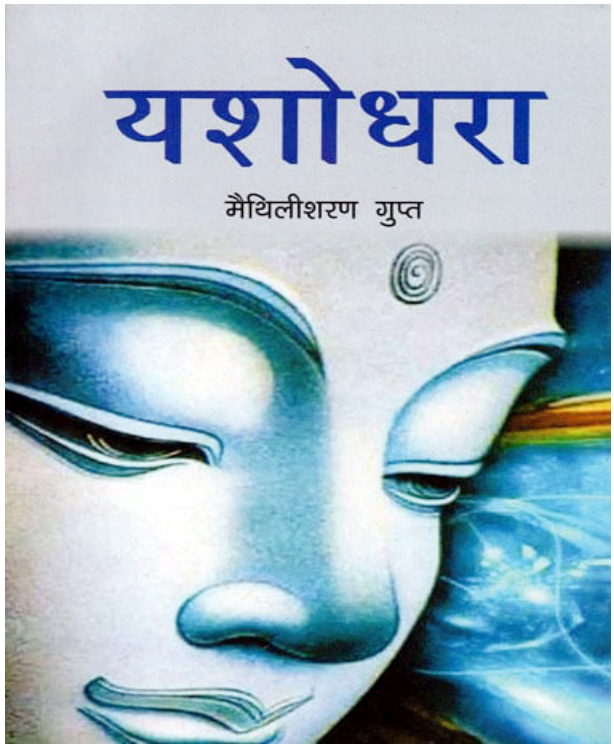

समझी जाने का कारण तो उसके आत्मगौरव को बड़ी ठेस लगती है। परंतु वह नारीत्व को किसी भी अंश में हीन मानने को प्रस्तुत नहीं है। वह भारतीय पत्नी है, उसका अर्धांगी–भाव सर्वत्र मुखर है– 'उसमें मेरा भी कुछ होगा जो कुछ तुम पाओगे।' सब मिलाकर यशोधरा आदर्श पत्नी, श्रेष्ठ माता और आत्मगौरव सम्पन्न नारी है। परंतु गुप्त जी ने यथासम्भव गौतम के परम्परागत उदात्त चरित्र की रक्षा की है। यद्यपि कवि ने उनके विश्वासों एवं सिद्धान्तों को अमान्य ठहराया है तथापि उनके चिरप्रसिद्ध रूप की रक्षा के लिए अंत में 'यशोधरा' और 'राहुल' को उनका अनुगामी बना दिया है। प्रस्तुत काव्य में वस्तु के संघटक और विकास में राहुल का समधिक महत्व है। यदि राहुल सा लाल गोद में न होता तो कदाचित यशोधरा मरण का ही वरण कर लेती और तब इस 'यशोधरा' का प्रणयन ही क्यों होता। 'यशोधरा' काव्य में राहुल का मनोविकास अंकित है। उसकी बालसुलभ चेष्टाओं में अद्भुत आकर्षण है। समय के साथ–साथ उसकी बुद्धि का विकास भी होता है, जो उसकी उक्तियों से स्पष्ट है। परंतु यह सब एकदम स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। कहीं कहीं तो राहुल प्रौढों के समान तर्क, युक्तिपूर्वक वार्तालाप करता है।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com